

क्या ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' के लिए एक ही आकृति थी?

शौरसेनी एवं किसी सीमा तक महाराष्ट्री प्राकृत की भी यह विशेषता है कि उसमें "नो णः सर्वत्र" अर्थात् सर्वत्र 'न' का 'ण' होता है (प्राकृतप्रकाश, २/४२)। जबकि अर्धमागधी में 'न' और 'ण' दोनों विकल्प से पाये जाते हैं। अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से भिन्न शौरसेनी की दूसरी अपनी निजी विशेषता यह है कि उसमें मध्यवर्ती असंयुक्त 'त्' का सदैव 'द्' (तृतीय वर्ण) हो जाता है। किन्तु जब अभिलेखीय प्राकृत विशेष रूप से अशोक, खारवेल और मथुरा के जैन अभिलेखों में ये विशेषताएँ परिलक्षित नहीं हुई, तो शौरसेनी की अतिप्राचीनता का दावा खोखला सिद्ध होने लगा। अतः अपने बचाव में डॉ० सुदीप जैन ने आधारहीन एक शगुफा छोड़ा या आधारहीन तथ्य प्रस्तुत किया और वह भी भारतीयलिपिविद् और पुरातत्त्ववेत्ता पं० गौरीशंकरजी ओझा के नाम से, कि ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) प्रयुक्त होती थी। किन्तु उन्होंने उनके इस कथन का कोई भी प्रमाण या सन्दर्भ प्रस्तुत नहीं किया। मुझे तो ऐसा लगता है कि सुदीपजी को जब कभी अपने समर्थन में अप्रामाणिक रूप से कुछ गोलमाल करना होता है, तो वे किसी बड़े व्यक्ति का नाम दे देते हैं, किन्तु यह उल्लेख नहीं करते कि उनका यह कथन अमुक पुस्तक के अमुक संस्करण में अमुक पृष्ठ पर है। वरिष्ठ विद्वानों के नाम से बिना प्रमाण के भ्रामक प्रचार करना उनकी विशेषता है। मैंने जब अपने लेखों 'न' और 'ण' में प्राचीन कौन?" और "अशोक के अभिलेखों की भाषा" में यह सिद्ध कर दिया कि प्राकृत में 'न' का प्रयोग ही प्राचीन है और 'ण' का प्रयोग परवर्ती है तो उन्होंने पं० ओझा के नाम से अपने सम्पादकीय में बिना प्रामाणिक सन्दर्भ दिये यह लिखना प्रारम्भ कर दिया कि ईसा पूर्व के ब्राह्मी शिलालेखों में 'न' वर्ण और 'ण' वर्ण के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था। डॉ० सुदीपजी इस सम्बन्ध में **प्राकृतविद्या**, अप्रैल-जून १९९७, पृ० ७ पर एवं जनवरी-मार्च १९९८, पृ० ७-८ पर क्रमशः लिखते हैं कि —

"इसी प्रकार प्राकृत के 'नो णः सर्वत्र' नियम का अपवाद इन शिलालेखों में प्रायशः 'न' पाठ की उपलब्धि बताया गया है। स्व० ओझाजी ने इसका समाधान देते हुए लिखा है कि प्राचीन भारतीय लिपियों, विशेषतः ब्राह्मी लिपि में 'न' एवं 'ण' वर्णों

के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) प्रयुक्त होती थी। जैसे कि अंग्रेजी में 'N' का प्रयोग 'न्' एवं 'ण्' दोनों के लिए होता है। तब उसे 'न' पढ़ा ही क्यों जाये? जब प्राकृत में णकार के प्रयोग का ही विधान है और उसे उक्त नियमानुसार 'ण' पढ़ा जा सकता है तो एक कृत्रिम विवाद की क्या सदाशयता हो सकती है? किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने 'न' पाठ रख दिया और उसे देखकर हमने कह दिया कि शिलालेखों की प्राकृत में 'ण' का प्रयोग नहीं है। कई साहसी विद्वान् तो इसके बारे में यहाँ तक कह गये हैं कि प्राकृत में 'न' का प्रयोग प्राचीन है और 'ण' का प्रयोग परवर्ती है। यह वस्तुतः एक अविचारित, शीघ्रतावश किया गया वचन-प्रयोग मात्र है।

जो विद्वान् ईसापूर्व के शिलालेखों में नकार के प्रयोग का प्रमाण देते हैं, वे वस्तुतः शिलालेखों एवं प्राकृत के इतिवृत्त से वस्तुतः परिचित ही नहीं हैं। वस्तुस्थिति यह है कि ईसापूर्व के शिलालेखों में प्रयुक्त लिपि में 'न' वर्ण एवं 'ण' वर्ण के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था - यह तथ्य महान् लिपि विशेषज्ञ एवं पुरातत्त्ववेत्ता रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय लिपिमाला' में स्पष्टतः घोषित किया है।"

१. इस सन्दर्भ में प्रथम आपत्ति तो यही है कि यदि पं० गौरीशंकरजी ओझा ने ऐसा लिखा है तो भाई सुदीप जी ससन्दर्भ उसे उद्धृत क्यों नहीं करते, कि पं० ओझाजी ने यह अमुक ग्रन्थ के अमुक संस्करण में अमुक पृष्ठ पर यह लिखा है? या तो वे इसका स्पष्ट रूप से प्रमाण दें, अन्यथा विद्वानों के नाम से व्यर्थ भ्रम न फैलायें।
२. उन्होंने पं० गौरीशंकरजी ओझा का नाम लेकर इस बात को कि ईस्वी पूर्व के शिलालेखों में 'न' और 'ण' के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था— **प्राकृतविद्या**, अप्रैल-जून १९९७, पृ० ७ पर और **प्राकृतविद्या**, जनवरी-मार्च १९९८, पृ० ८ पर उद्धृत किया है। **प्राकृतविद्या**, अप्रैल-जून १९९७, पृ० ७ पर ओझाजी के नाम से वे लिखते हैं "प्राचीन भारतीय लिपियों, विशेषतः ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) प्रयुक्त होती थी"। जबकि **प्राकृतविद्या**, जनवरी-मार्च १९९८, पृ० ८ पर वे लिखते हैं कि "ईसापूर्व के शिलालेखों में प्रयुक्त लिपि में 'न' वर्ण और 'ण' वर्ण के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था"। इन दोनों स्थानों पर कथ्य चाहे एक हो, किन्तु उनका भाषायी प्रारूप भिन्न-भिन्न है। किसी भी व्यक्ति का कोई भी उद्धरण चाहे कितनी ही बार उद्धृत किया जाये उसका भाषायी स्वरूप एक ही होता है। यहाँ इस विभिन्नता का तात्पर्य यही है कि वे पं० ओझाजी के कथन को अपने ढंग से तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर रहे हैं। वैसे सुदीपजी इस विधा में पारंगत हैं, वे बिना प्रामाणिक सन्दर्भ के किसी भी बड़े विद्वान् के नाम पर

कुछ भी तोड़-मरोड़ कर कह देते हैं। किन्तु उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि पं० गौरीशंकरजी ओझा दिवंगत हैं, उनके सन्दर्भ में जो कुछ लिखें, उसके लिए उनके ग्रन्थ, संस्करण और पृष्ठ संख्या का अवश्य उल्लेख करें; क्योंकि अपनी पुस्तक **भारतीय प्राचीन लिपिमाला** के लिपि पत्र क्रमांक १, ४, ६ (सभी ई०पू०) में स्वयं ओझा जी ने ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' की आकृतियों में रहे अन्तर को स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है। अशोक के अभिलेखों में गिरनार अभिलेख के आधार पर निर्मित लिपिपत्र क्रमांक १ (ईसा पूर्व ३री शती) में उन्होंने 'न' और 'ण' की आकृतियों का यह अन्तर निर्दिष्ट किया है, उसमें 'न' के लिए **𑀓** और 'ण' के लिए **𑀔** ये आकृतियाँ हैं इस प्रकार दोनों आकृतियों में आंशिक निकटता तो है, किन्तु दोनों एक नहीं हैं। पुनः स्व० ओझाजी ने अशोक के अभिलेख का जो 'लिप्यन्तरण' किया है उसमें भी कहीं भी उन्होंने 'ण' नहीं पढ़ा सर्वत्र उसे **𑀓** अर्थात् न ही पढ़ा है।

मात्र यही नहीं उन्होंने इस लिपिपत्र में 'न' के दो रूपों **𑀓** एवं **𑀔** का भी निर्देश किया है और मात्र इतना ही नहीं उन्होंने यह भी बताया है कि मात्रा लगने पर दन्त्य न और मूर्धन्य ण की आकृतियाँ किस प्रकार बनती हैं यथा— नि **𑀓** नु **𑀔** नो **𑀓**। इसके विपरीत मूर्धन्य ण पर ए की मात्रा लगने पर जो आकृति बनती है, वह बिल्कुल भिन्न है यथा णे **𑀔**। इससे यह सिद्ध होता है कि अशोक के काल में ब्राह्मी लिपि में न और ण की आकृति एक नहीं थी। ज्ञातव्य है कि अशोक के अभिलेखों में जहाँ गिरनार के अभिलेख में न (**𑀓**) और ण (**𑀔**) दोनों विकल्प से उत्कीर्ण मिलते हैं, वहाँ उत्तर-पूर्व के अभिलेखों में प्रायः न (**𑀓**) ही मिलता है। यह तथ्य पं० ओझाजी के लिपिपत्र दो से सिद्ध होता है। लिपिपत्र तीन जो रामगढ़, नागार्जुनी गुफा, भरहुत और सांची के स्तूप-लेखों पर आधारित है उसमें भी 'न' और 'ण' दोनों की अलग-अलग आकृतियाँ हैं— उसमें न के लिए **𑀓** और ण के लिए **𑀔** आकृतियाँ हैं। ई०पू० दूसरी शताब्दी से जब अक्षरों पर सिरे बाँधना प्रारम्भ हुए तो न और ण की आकृति समरूप न हो जाये इससे बचने हेतु 'ण' की आकृति में थोड़ा परिवर्तन किया गया और उसे किञ्चित् भिन्न प्रकार से लिखा जाने लगा --

न **𑀓** नि **𑀔** नो **𑀓**

ण **𑀔** णी **𑀕** णो **𑀕**

इसी प्रकार लिपिपत्र चौथे से भी यही सिद्ध होता है कि ई०पू० में ब्राह्मी अभिलेखों में न और ण की आकृतियाँ भिन्न थीं। लिपिपत्र पाँच जो पम्बोसा और मथुरा के ई०पू० प्रथम शती के अभिलेखों पर आधारित है उसमें जो लेख पं० ओझाजी ने उद्धृत किया है उसमें भी न और ण की आकृतियाँ भिन्न-भिन्न ही हैं। साथ ही उसमें 'ण' का प्रयोग

विरल है। उस लेखांश में जहाँ पाँच बार 'न' का प्रयोग है वहाँ 'ण' का प्रयोग मात्र दो बार ही है अर्थात् ७० प्रतिशत न है और ३० प्रतिशत ण है। इसका तात्पर्य यह है कि वह मथुरा जिसे शौरसेनी का उत्पत्ति स्थल माना जाता है और जहाँ की भाषा पर 'णो नः सर्वत्र' का सिद्धान्त लागू किया जाता है वहाँ भी ई०पू० प्रथम शती में जब यह स्थिति है तो उस तथाकथित शौरसेनी की प्राचीनता का दावा कितना आधारहीन है, यह स्वतःसिद्ध हो जाता है। मथुरा के अभिलेखों में ईसा की प्रथम-दूसरी शती तक भी 'णो नः सर्वत्र' और मध्यवर्ती 'त्' के 'द्' होने का दावा करने वाली उस तथाकथित शौरसेनी का कहीं अतापता ही नहीं है।

ई०सन् की प्रथम-दूसरी शती के लिपिपत्र सात के अवलोकन से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में विशेष रूप से नासिक के शक उपषदात (ऋषभदात) के अभिलेख में न और ण की आकृति पूर्ववत् अर्थात् 𑀅 और 𑀆 के रूप में स्थिर रही है और इस लेखांश में ५४ प्रतिशत 'न' और ४६ प्रतिशत 'ण' के प्रयोग हैं तथा 'ण' के पाँच रूप और न के तीन रूप पाये जाते हैं— यथा

'ण' 𑀆 , 𑀆 , 𑀆 , 𑀆 , 𑀆

'न' 𑀅 , 𑀅 , 𑀅

इस समय विवेचन से यह ज्ञात होता है ईस्वी पूर्व तीसरी शती से अर्थात् जब से अभिलिखित सामग्री प्राप्त होती है 'न' और 'ण' के लिए ब्राह्मी लिपि में सदैव ही भिन्न-भिन्न आकृतियाँ रही हैं, जिसका स्पष्ट निर्देश पं० गौरीशंकरजी ओझा ने अपने उपरोक्त लिपिपत्रों में किया है अतः उनके नाम पर डॉ० सुदीपजी का यह कथन नितान्त मिथ्या है कि "जब ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' के लिए एक ही आकृति का प्रयोग होता था, तो उसे 'न' पढ़ा ही क्यों जाए?" जब न और ण के लिए प्रारम्भ से ही ब्राह्मी लिपि में अलग-अलग आकृतियाँ निश्चित हैं तो फिर 'न' को न और ण को ण ही पढ़ना होगा। पुनः जहाँ पूर्व एवं उत्तर भारत के अशोक के अभिलेखों में प्रायः 'ण' का अभाव है वहीं पश्चिमी भारत के उसके अभिलेखों में क्वचित् रूप से 'ण' के प्रयोग देखे जाते हैं। किन्तु इस विश्लेषण से एक नया तथ्य यह भी ज्ञात होता है कि मध्यप्रदेश एवं पश्चिम भारत में भी 'ण' के प्रयोग में कालक्रम में भी अभिवृद्धि हुई है जहाँ उत्तर पूर्व एवं मध्य भारत के ई०पू० तीसरी शती के अशोक के अभिलेखों में 'ण' का प्रायः अभाव है, वहीं पश्चिमी भारत के उसके अभिलेखों में 'ण' का प्रयोग १० प्रतिशत से कम है। उसके पश्चात् ई०पू० प्रथम शती के मथुरा और पभोसा के अभिलेखों में 'ण' का प्रयोग २५ प्रतिशत से ३० प्रतिशत मिलता है, किन्तु इसके लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् पश्चिम-दक्षिण में नासिक के अभिलेख में यह बढ़कर ५० प्रतिशत हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि 'ण'कार प्रधान शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतें 'न'कार

प्रधान मागधी या अर्धमागधी की अपेक्षा परवर्ती काल में विकसित हुई है। अतः मागधी या अर्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी की प्राचीनता का तथा ब्राह्मी अभिलेखों में न और ण के लिए एक आकृति के प्रयोग का पं० ओझा जी के नाम से प्रचारित डॉ० सुदीपजी का दावा भ्रामक है।

भारतीय प्राचीन लिपिमाला में पं० ओझाजी द्वारा ही प्रस्तुत उक्त तथ्य उनके इस भ्रम को तोड़ने में पर्याप्त है कि प्राचीनकाल में ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' के लिए एक ही लिपि का प्रयोग होता था। डॉ० सुदीप जी ने पं० ओझा के मन्तव्य को किस प्रकार तोड़ा-मरोड़ा है, यह तथ्य तो मुझे ओझाजी की पुस्तक **भारतीय प्राचीन लिपिमाला** के आद्योपान्त अध्ययन के बाद ही पता चला।

लिपिपत्र ६७ जो खरोष्ठी लिपि से सम्बन्धित है, के विवेचन में **भारतीय प्राचीन लिपिमाला**, पृ० १०० पर पं० ओझा लिखते हैं कि "यह लिपिपत्र क्षत्रप राजुल के समय के मथुरा से मिले हुए सिंहाकृति वाले स्तम्भ सिरे के लेखों, तक्षाशिला से मिले हुए क्षत्रप पतिक के ताम्रलेख और वहीं से मिले हुए एक पत्थर के पात्र पर के लेख से तैयार किया गया है। इस लिपिपत्र के अक्षरों में 'उ' की मात्रा का रूप ग्रन्थि बनाया है और 'न' तथा 'ण' में बहुधा स्पष्ट अन्तर नहीं पाया जाता है। मथुरा के लेखों में कहीं-कहीं 'त' 'न' तथा 'र' में भी स्पष्ट अन्तर नहीं है।" इसके पश्चात् ओझाजी ने एक अभिलेख का वह अंश दिया जिसका नागरी अक्षरान्तर इस प्रकार है —

'सिहिलेन सिहरछितेन च भतरेहि तखशिलाए अयं युवो प्रतिथवितो सवबुधन पुयए'

इसकी पादटिप्पणी में पुनः ओझाजी लिखते हैं कि— "सिहिलेन से लगाकर पुयए" तक के इस लेख में तीन बार ण या न आया है, जिसको दोनों तरह से पढ़ सकते हैं, क्योंकि उस समय के आस-पास के खरोष्ठी लिपि के कितने लेखों में 'न' और 'ण' में स्पष्ट भेद नहीं पाया जाता।

पं० ओझा जी के शब्दों से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जो बात उन्होंने खरोष्ठी लिपि के सन्दर्भ में कही है, उसे सुदीपजी ने कैसे ब्राह्मी पर लागू कर दिया? **प्राकृतविद्या**, अप्रैल-जून १९१७ में वे बड़े दावे के साथ लिखते हैं कि "प्राचीन भारतीय लिपि विशेषतः ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) प्रयुक्त होती थी।" या तो वे इस तथ्य को ही कहीं प्रमाण रूप से प्रस्तुत करें अथवा वरिष्ठ विद्वानों के नाम से अपने पक्ष के समर्थन में भ्रामक रूप से तोड़-मरोड़ कर तथ्यों को प्रस्तुत न करें। यह लिपिपत्र एवं लेख सभी खरोष्ठी से सम्बन्धित है। पुनः यहाँ भी ओझाजी ने स्वयं 'न' ही पढ़ा है, 'ण' नहीं, मात्र पादटिप्पणी में अन्य सम्भावना के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण दिया है। इसे भी 'न' ही क्यों पढ़ा जाए 'ण' क्यों नहीं पढ़ा

जाये इसके भी कारण है। सर्वप्रथम तो हमें उस लेख की भाषा के स्वरूप, क्षेत्र एवं काल का विचार करना होगा, फिर यह देखना होगा कि उस काल में उस क्षेत्र में किस प्रकार की भाषा प्रचलित थी क्योंकि देश और काल के भेद से भाषा का स्वरूप बदलता है और उसकी उच्चारण शैली भी बदलती है।

पं० जगमोहन वर्मा (प्राचीन भारतीय लिपिमाला, पृ० ३०) का तो यहाँ तक कहना है कि ट, ठ, ड, ढ, ण -- ये मूर्धन्य वर्ण पाश्चात्य अनार्यों के प्रभाव से भारतीय आर्य भाषा में सम्मिलित किये गये। उनकी यह अवधारणा कितनी सत्य है यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु आनुभाविक स्तर पर इतना तो सत्य है उत्तर-पश्चिम की बोलियों और भाषाओं में आज भी इनका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होता है। प्राकृतों में भी परवर्ती प्राकृतों और अपभ्रंशों में ही अपेक्षाकृत इनका प्रयोग अधिक होता है।

खरोष्ठी लिपि में 'न' को मूर्धन्य 'ण' पढ़ा जाये अथवा दन्त्य 'न' पढ़ा जाये, इसका समाधान यह है कि जहाँ तक साहबाजगढ़ी और मान्सेरा के अशोक के अभिलेखों का प्रश्न है, वे चाहे खरोष्ठी लिपि में लिखे गये हैं, किन्तु उनकी भाषा मूलतः मागधी ही है, अतः उस काल की मागधी भाषा की प्रकृति के अनुसार उनमें आये हुए 'न' को दन्त्य 'न' ही पढ़ना होगा। पुनः वे ही लेख जिन-जिन स्थानों पर ब्राह्मीलिपि उत्कीर्ण हुए हैं और यदि वहाँ उनमें आये 'न' को यदि दन्त्य 'न' के रूप में उत्कीर्ण किया गया है, तो यहाँ भी हमें उन्हें दन्त्य 'न' के रूप में पढ़ना होगा, क्योंकि उच्चारण/पठन भाषा की प्रकृति के आधार पर होता है, लिपि की प्रकृति के आधार पर नहीं। आज भी अंग्रेजी में उच्चारण भाषा की प्रकृति के आधार पर ही होता है। अक्षर की आकृति के आधार पर नहीं। उदाहरणार्थ 'C' का उच्चारण कभी 'क' कभी 'श' और कभी 'च' होता है। यहाँ भी हमें यह स्वतन्त्रता नहीं है कि अपनी इच्छा से कोई भी उच्चारण कर लें।

एक दूसरा उदाहरण लें, यदि संस्कृत या हिन्दी भाषा का कोई शब्द रोमन में लिखा गया है और यदि उसके लेखन में डार्फ़क्रिटिकल चिह्नों का उपयोग नहीं किया गया है तो हमें उन रोमन वर्णों का उच्चारण संस्कृत या हिन्दी की प्रकृति के आधार पर करना होगा, रोमन लिपि के आधार पर नहीं। अतः मागधी भाषा के खरोष्ठी लिपि में लिखे गये लेख का उच्चारण तो मागधी की प्रकृति के आधार पर ही होगा और मागधी की प्रकृति के आधार पर वहाँ 'न' ही पढ़ना होगा, 'ण' नहीं।

पुनः खरोष्ठी लिपि में पैशाची प्राकृत के भी लेख हैं, उनका उच्चारण पैशाची प्राकृत के आधार पर ही होगा। ज्ञातव्य है कि पैशाची प्राकृत में तो 'ण' का भी 'न' होता है। इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर स्वयं डॉ० सुदीपजी द्वारा उद्धृत प्राकृतशब्दानुशासन का सूत्र दे रहा हूँ — न णोः पैशाच्यां (३/२/४३) अर्थात्

पैशाची प्राकृत में 'ण' का भी 'न' होता है अतः पैशाची प्राकृत के खरोष्ठी लिपि में लिखे गये अभिलेखों में, चाहे वहाँ लिपि में 'ण' और 'न' में अन्तर नहीं हो, वहाँ भी पैशाचीप्राकृत की प्रकृति के अनुसार वह 'न' ही है और उसे 'न' ही पढ़ना होगा।

इसके अतिरिक्त एक सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पैशाची प्राकृत में 'न' और 'ण' की अलग व्यवस्था न हो और उसमें सर्वत्र 'न' का प्रयोग विहित हो तथा इसी कारण परवर्ती खरोष्ठी अभिलेखों में 'ण' के लिए कोई अलग से लिप्यक्षर न हो, किन्तु अर्धमागधी में 'न' और 'ण' दोनों विकल्प पाये जाते हैं, अतः अशोक के मागधी के अभिलेख जब मान्सेरा और शाहबाजगढ़ी में खरोष्ठी में उत्कीर्ण हुए तो उनमें 'ण' और 'न' के लिए अलग-अलग लिप्यक्षर निर्धारित हुए हैं। पं० ओझा जी ने भी अपनी पुस्तक में खरोष्ठी के प्रथम लिपिपत्र क्रमांक ६५ में 'ण' और 'न' के लिए अलग-अलग लिप्यक्षरों का निर्देश किया है। मात्र यही नहीं उस लिपिपत्र में उन्होंने 'ण' की दो आकृतियों का एवं 'न' की चार आकृतियों का उल्लेख किया है --

ण = + १ १ १
 न १ १ १ १

इस आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि खरोष्ठी लिपि में भी ई०पू० तीसरी शती में 'न' और 'ण' के लिए अलग-अलग आकृतियाँ रही हैं। पुनः जब कोई किसी दूसरी भाषा के शब्द रूप किसी ऐसी लिपि में लिखे जाते, जिसमें उस भाषा में प्रयुक्त कुछ स्वर या व्यञ्जन नहीं होते हैं, तो उन्हें स्पष्ट करने के लिए उसकी निकटवर्ती ध्वनि वाले स्वर एवं व्यञ्जन की आकृति में कुछ परिवर्तन करके उन्हें स्पष्ट किया जाता है जैसे रोमन लिपि में ड, ज, ण, का अभाव है, अतः उसमें इन्हें स्पष्ट करने के लिए में कुछ विशिष्ट संकेत चिह्न जोड़े गये यथा— यह स्थिति खरोष्ठी लिपि में रही है, जब उन्हें मागधी के अभिलेख खरोष्ठी लिपि में उत्कीर्ण करना हुए उन्होंने न (१) की आकृति में आंशिक परिवर्तन कर 'ण' (१) की व्यवस्था की।

अतः खरोष्ठी में भी जब अशोक के अभिलेख लिखे गये तो न और ण के अन्तर का ध्यान रखा गया। अतः पं० ओझा जी के नाम पर यह कहना कि प्राचीन लिपि में 'ण' और 'न' के लिए एक लिप्यक्षर प्रयुक्त होता था नितान्त भ्रामक है। पुनः प्राचीन लिपियों में 'ण' एवं 'न' के लिए अलग-अलग आकृतियाँ मिलने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि प्राचीन प्राकृतों में 'ण' का प्राधान्य था। मागधी आदि प्राचीन प्राकृतों में प्राधान्य तो 'न' का ही था, किन्तु विकल्प से कहीं-कहीं 'ण' का प्रयोग होता था। प्राकृतों में मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग क्रमशः किस प्रकार बढ़ता गया इसकी चर्चा भी हम शिलालेखों के आधार पर पूर्व में कर चुके हैं।

संक्षेप में ब्राह्मीलिपि के अशोककालीन मागधी अभिलेखों में प्रारम्भ से ही जब 'न' और 'ण' की स्वतन्त्र आकृतियाँ निर्धारित हैं तो उनमें उत्कीर्ण 'न' को 'ण' नहीं पढ़ा जा सकता है, पुनः खरोष्ठी लिपि में भी मागधी और पैशाची प्राकृतों की प्रकृति के अनुसार 'न' ही पढ़ना होगा।

भाई सुदीपजी ने प्राकृतविद्या, अप्रैल-जून १९९७ के 'सबसे बड़ा अभिशाप : अंगूठा छाप' नामक शीर्षक से प्रकाशित सम्पादकीय में लिखा है —

“इसी प्रकार प्राकृत के 'नो णः सर्वत्र' नियम का अपवाद इन शिलालेखों में प्रायशः 'न' पाठ की उपलब्धि बताया गया है। स्व० ओझाजी ने इसका समाधान देते हुए लिखा है कि प्राचीन भारतीय लिपियों, विशेषतः ब्राह्मी लिपि में 'न' एवं 'ण' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) प्रयुक्त होती थी। जैसे कि अंग्रेजी में 'N' का प्रयोग 'न' एवं 'ण' दोनों के लिए होता है। तब उसे 'न' पढ़ा ही क्यों जाये? जब प्राकृत में णकार के प्रयोग का ही विधान है और उसे उक्त नियमानुसार 'ण' पढ़ा जा सकता है; तो एक कृत्रिम विवाद की क्या सदाशयता हो सकती है? किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने 'न' पाठ रख दिया और उसे देखकर हमने कह दिया कि शिलालेखों की प्राकृत में 'न' का प्रयोग प्राचीन है और 'ण' का प्रयोग परवर्ती है। यह वस्तुतः एक अविचारित, शीघ्रतावश किया गया वचन-प्रयोग मात्र है।”

उनकी ये स्थापनाएँ कितनी निराधार और भ्रान्त है यह उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है —

१. नो णः सर्वत्र के नियम का अपवाद इन शिलालेखों में प्रायशः 'न' पाठ की उपलब्धि है - जो उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है। अतः शिलालेखीय प्राकृत मागधी/अर्धमागधी के निकट है और उसमें शौरसेनी के दोनों विशिष्ट लक्षण दन्त्य 'न' के स्थान पर मूर्धन्य 'ण' और मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्' का अभाव है।
२. ब्राह्मी लिपि में प्रारम्भिक काल से 'न' और 'ण' के लिए अलग-अलग आकृतियाँ रही हैं। यह बात पं० गौरीशंकरजी ओझा के भारतीयप्राचीनलिपिमाला पुस्तक के लिपिपत्रों से ही सिद्ध हो जाती है। अतः उनके नाम से यह प्रचार करना कि प्राचीन ब्राह्मी लिपि में 'न' एवं 'ण' वर्णों के लिए एक ही आकृति (लिपि-अक्षर) का प्रयोग होता था — भ्रामक और निराधार है।

शीर्षस्थ विद्वानों के कथन को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर अपनी बात को सिद्ध करना बौद्धिक अप्रामाणिकता है और लगता है कि भाई सुदीपजी किसी आग्रहवश ऐसा करते जा रहे हैं। वे एक असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए एक के बाद एक असत्यों का प्रतिपादन करते जा रहे हैं।

३. पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने अभिलेखों के जो भी पाठ निर्धारित किये हैं वे सुविचारित और प्रामाणिक हैं, उन्हें अप्रामाणिक कहने के पूर्व उनका व्यापक तुलनात्मक एवं तटस्थ अध्ययन होना आवश्यक है। दूसरों को 'अंगूठा छाप' कहने के पहले हमें अपनी यथार्थ स्थिति को जान लेना चाहिए।
४. जो बात पं० ओझा जी ने खरोष्ठी लिपि के लिपिपत्र ६७ सम्बन्ध में कही हो, उसे उनकी कृति का अध्ययन किये बिना, बिना प्रमाण के ब्राह्मी के सम्बन्ध में कह देना सुदीप जी के अज्ञान, अप्रामाणिकता और पल्लवग्राही पाण्डित्य को ही प्रकट करता है। इस प्रकार के अपरिपक्व और अप्रामाणिक लेखन से 'अंगूठाछाप' कौन सिद्ध होगा, यह विचार कर लेना चाहिए।
५. प्राकृत में 'न' का प्रयोग प्राचीन है और 'ण' का प्रयोग परवर्ती है - इसकी सिद्धि तो अभिलेखों विशेष रूप से शौरसेन प्रदेश एवं मथुरा के प्राचीन अभिलेखों में प्रारम्भ में 'ण' की अनुपस्थिति और फिर उसके बाद कालक्रम में उसके प्रतिशत में हुई वृद्धि आदि से ही हो जाती है जिसकी प्रामाणिक चर्चा पं० ओझा जी की पुस्तक के आधार पर हम कर चुके हैं। अतः प्राकृत में 'न' का अथवा विकल्प से न और ण का प्रयोग प्राचीन है और 'नो णः सर्वत्र' का सिद्धान्त और उसको मान्य करने वाली प्राकृते परवर्ती हैं, यह एक सुविचारित तथ्यपूर्ण निर्णय है।
६. रही बात विवाद उठाने की और सदाशयता की, तो सुदीप जी स्वयं ही बतायें कि शौरसेनी को प्राचीन बताने की धुन में 'अर्धमागधी आगम साहित्य पर नकल करके कृत्रिम रूप से पाँचवीं शती में शौरसेनी आगमों से निर्मित 'जैसे मिथ्या आरोप किसने लगाये, विवाद किसने प्रारम्भ किया और सदाशयता का अभाव किसमें है। क्या जो व्यक्ति व्यंग में अपनी पत्रिका के सम्पादकीय में विद्वानों को अंगूठाछाप बताये और उनकी तुलना बिच्छु से करे, उसे सदाशयी माना जायेगा, स्वयं ही विचारणीय है।

वस्तुतः ब्राह्मी लिपि में 'न' और 'ण' के लिए एक ही आकृति होती है - यह कह कर भाई सुदीप जी ने शौरसेनी की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए पं० ओझा जी के नाम पर एक छक्का मारने का प्रयास किया, उन्हें क्या पता था कि 'कैच' हो जायेगा और 'आउट' होना पड़ेगा।



ओड्मागधी प्राकृत : एक नया शगुफा

जब अभिलेखीय प्राकृत को शौरसेनी प्राकृत सिद्ध करने का प्रयत्न सफल नहीं हुआ, तो डॉ० सुदीप जी ने अभिलेखीय प्राकृत को ओड्मागधी प्राकृत बताने का एक नया शगुफा छोड़ा है। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्राकृत विद्या, अप्रैल-जून १९९८ में 'ओड्मागधी प्राकृत : एक परिचयात्मक अनुशीलन' नामक लेख लिखा। आश्चर्य यह है कि प्राकृत भाषा के ढाई हजार वर्ष के सुदीर्घ इतिहास में आज तक एक भी विद्वान् ऐसा नहीं हुआ, जिसने ओड्मागधी प्राकृत का कहीं संकेत भी किया हो। विभिन्न प्राकृतों के विशिष्ट लक्षणों का निर्देश करने के लिए अनेक प्राकृत व्याकरण लिखे गये, किन्तु किसी ने भी ओड्मागधी प्राकृत का कहीं कोई नामोल्लेख भी नहीं किया। यह डॉ० सुदीप जी की अनोखी सूझ है कि उन्होंने एक ऐसी प्राकृत का निर्देश किया जिसका बड़े-बड़े प्राकृत भाषाविदों, इतिहासकारों और वैयाकरणों को भी अता-पता नहीं था। निश्चित ही ऐसी अद्भुत खोज के लिए वे विद्वत् वर्ग की बधाई के पात्र होते। किन्तु इसके लिए हमें यह तो निश्चित करना होगा कि क्या यह एक तथ्यपूर्ण खोज है या मात्र एक शगुफा।

डॉ० सुदीपजी ने ओड्मागधी प्राकृत की पुष्टि के लिए भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य की चार प्रकार की वृत्तियों—(१) आवन्ती, (२) दक्षिणत्या, (३) पञ्चाली, और (४) ओड्मागधी का निर्देश किया है, मात्र यही नहीं इन वृत्तियों (नाट्यशैलियों) की चर्चा करते हुए उन्होंने इनके विस्तार क्षेत्र की भी चर्चा की है और ओड्मागधी वृत्ति का क्षेत्र सम्पूर्ण पूर्वी भारत बताया है, जो वर्तमान में पश्चिम में प्रयाग से लेकर पूर्व में ब्रह्म देश तक और उत्तर में नेपाल से लेकर दक्षिण में बंगाल और दक्षिणी उड़ीसा के समुद्रतट तक बताया है। लेकिन यहाँ जिस ओड्मागधी वृत्ति की चर्चा की गयी है, वह एक नाट्य-विधा या नाट्य शैली है। यह ठीक है कि वृत्ति या शैली का सम्बन्ध उस क्षेत्र की वेशभूषा, बोलचाल, आचार-पद्धति एवं वाणिज्य-व्यवसाय अदि से होता है, वह एक संस्कृति को प्रस्तुत करती है, जिसमें उपरोक्त तथ्य भी सन्निहित होते हैं। फिर भी ओड्मागधी एक नाट्यशैली है न कि एक भाषा। भरतमुनि ने कहीं भी उसका उल्लेख एक भाषा के रूप में नहीं किया है। यह डॉ० सुदीप की भ्रामक कल्पना है कि एक नाट्यशैली को वे एक भाषा सिद्ध कर रहे हैं। आज जैसे ओडीसी एक

नृत्य शैली है। आज यदि कोई 'ओडिसी' शैली को भाषा कहे, तो वह उसके अज्ञान का ही सूचक होगा। उसी प्रकार ओड्मागधी, जो एक नाट्यशैली रही है उसको एक भाषा कहना एक दुस्साहस ही होगा जो डॉ० सुदीपजी ही कर सकते हैं। यदि ओड्मागधी नामक कोई भाषा होती तो दो हजार वर्ष की इस अवधि में संस्कृत एवं प्राकृत का कोई न कोई विद्वान् तो उसका भाषा के रूप में उल्लेख करता अथवा संस्कृत-प्राकृत भाषा के किसी व्याकरण में उसके लक्षणों की कोई चर्चा अवश्य हुई होगी। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में जहाँ भी ओड्मागधी का उल्लेख किया है, उसे एक नृत्यशैली के रूप में ही प्रस्तुत किया है, कहीं भी उसका भाषा के रूप में उल्लेख नहीं किया। यह बात भिन्न है कि नृत्यशैली में भी वेशभूषा, भाषा आदि सांस्कृतिक तत्त्व अन्तर्निहित होते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ओड्मागधी नामक कोई भाषा थी। वस्तुतः ओड्मागधी एक वृत्ति, प्रवृत्ति या शैली ही थी। भरतमुनि और उनके टीकाकारों और व्याख्याकारों ने सदैव ही उसका नाट्यशैली के रूप में उल्लेख किया है, भारतीय वाङ्मय में ऐसा एक भी सन्दर्भ नहीं है, जो ओड्मागधी को एक भाषा के रूप में उल्लेखित करता हो।

वस्तुतः ओड्मागधी है क्या? वह ओड् और मागधी इन दो शब्दों से बना एक संयुक्त शब्द रूप है, इसमें ओड् वर्तमान उड़ीसा प्रदेश की और मागधी मगध प्रदेश की नाट्यशैली की सूचक है। उड़ीसा और मगध प्रदेश की मिश्रित नाट्य शैली को ही ओड्मागधी कहा गया है जो सम्पूर्ण पूर्वोत्तर भारत में प्रचलित थी। वह एक मिश्रित नाट्यशैली मात्र है। किन्तु डॉ० सुदीपजी उसे भाषा मान बैठे हैं, वे प्राकृत-विद्या, अप्रैल-जून १९९८ में पृ० १३-१४ पर लिखते हैं— "ओड्मागधी प्राकृत भाषा का ईसा पूर्व के बृहत्तर भारतवर्ष के पूर्वी क्षेत्र में पूर्णतः वर्चस्व था, यह न केवल इन क्षेत्रों में बोली जाती थी अपितु साहित्य लेखन आदि भी इसी में होता था। इसीलिए सम्राट खारवेल का कलिंग अभिलेखन (हाथी-गुफा अभिलेख) भी इसी ओड्मागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध है"।

प्रथमतः तो ओड्मागधी मात्र नाट्यशैली थी, भाषा नहीं क्योंकि आज तक एक भी विद्वान् ने इसका भाषा के रूप में कोई उल्लेख नहीं किया है। पुनः जैसाकि भाई सुदीपजी लिखते हैं कि इसमें साहित्य लेखन होता था तो वे ऐसे एक भी ग्रन्थ का नामोल्लेख भी करें, जो इस ओड्मागधी में लिखा गया हो। पुनः यदि बकौल उनके इसे एक भाषा मान भी लें तो यह उड़ीसा और मगध क्षेत्र की बोलियों के मिश्रित रूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। क्योंकि सभी विद्वानों ने एक मत से यह माना है कि अर्धमागधी, मागधी और उसके समीपवर्ती प्रादेशिक बोलियों के शब्द रूपों से बनी एक मिश्रित भाषा है। उड़ीसा मगध का समीपवर्ती प्रदेश है अतः उसके शब्द स्वाभाविक रूप में उसमें सम्मिलित हैं। अतः ओड्मागधी, अर्धमागधी या उसकी एक विशेष विधा

के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वस्तुतः डॉ० सुदीपजी को अर्धमागधी के नाम से ही घृणा है, उन्हें इस नाम को स्वीकार करने पर अपने साम्प्रदायिक अभिनिवेश पर चोट पहुंचती नजर आती है। उनका इसके पीछे अर्धमागधी आगमों और उनके मानने वाले के प्रति वैमनस्य प्रदर्शित करने के अलावा क्या उद्देश्य है, मैं नहीं जानता?

उन्होंने हाथीगुम्फा अभिलेख को प्रादर्श मानकर उससे ओड्मागधी के कुछ लक्षण भी निर्धारित किये हैं, आएं देखें उनमें कितनी सत्यता है और वे अर्धमागधी के लक्षणों से किस अर्थ में भिन्न हैं। वे लिखते हैं कि “इस अभिलेख में सर्वत्र पद के प्रारम्भ में ‘ण’ वर्ण का प्रयोग हुआ है, तथा अन्त में ‘न’ वर्ण आया है, जबकि अर्धमागधी में पद के प्रारम्भ में ‘न’ वर्ण आता है तथा अन्त में ‘ण’ वर्ण आता है। वस्तुतः यह प्राचीन शौरसेनी जो कि दिगम्बर जैनागमों की मूलभाषा से प्रभावित मागधी का विशिष्ट रूप है। इससे दन्त्य सकार की प्रकृति, ‘क’ वर्ण का ‘ग’ वर्ण आदेश, ‘थ’ के स्थान पर ‘ध’ का प्रयोग एवं अकारान्त पु० प्रथमा एक वचनान्त रूपों में ओकारान्त की प्रवृत्ति विशुद्ध शौरसेनी का ही अमिट एवं मौलिक प्रभाव है।”

— प्राकृत विद्या, अप्रैल-जून १९९८, पृ० १४.

प्रथमतः उनका यह कहना सर्वथा असत्य और अप्रामाणिक है कि इस अभिलेख में पद के प्रारम्भ में ‘ण’ वर्ण का प्रयोग हुआ है तथा पद के अन्त में ‘न’ वर्ण आया है। विद्वत् जनों के तात्कालिक सन्दर्भ के लिए हम नीचे हाथीगुम्फा खारवेल का अभिलेख उद्धृत कर रहे हैं --

Language : Prakrit resembling pali

Script : Brahmi of about the end of the 1st century B.C.

Text

१. नमो अरहंतानं (।) नमो सव-सिधानं (॥) ऐरेण महाराजेन महामेघवाहनेन
चेति-राज-व (॥) स-वधनेन पसथ-सुभ-लखनेन चतुरंतलुठ (ण)-गुण-उपितेन
कलिंगाधिपतिना सिरि-खारवेलेन

२. (प) दरस-वसानि सीरि- (कडार)- सरीर-वता कीडिता कुमार- कीडिका
(॥) ततो लेख-रूप गणना-ववहार-विधि-विसारदेव सव-विजावदातेन नव-वसानि
योवरज (प) सासितं (॥) संपुण- चतुवीसिति- वसो तदानि वधमानसेसयो-
वेनाभिविजयो ततिये

३. कलिंग राज वसे पुरिस-युगे महाराजाभिसेचनं पापुनाति (॥) अभिसितमतो
च पधमे वसे वात-विहत गोपुर-पाकार-निवेसनं पटिसंखारयति कलिंगनगरिखिबी (२)
(।) सितल-तडाग-पाडियो च बंधापयति सवूयान-प (टि) संथपनं च

४. कारयति पनति (सि) साहि सत-सहसेहि पकतियो च रंजयति (॥) दुतिये च वसे अचितयिता सातकंनि पछिम-दिसं हय-गज-नर-रथ-बहुलं दंडं पठापयति (१) कन्हबेणा-गताय च सेनाय वितासिति असिकनरं (॥) ततिये पुन वसे

५. गंधव-वेद-बुधो दप-नत-गीत-वादित-संदसनाहि उसव-समाज-कारापनाहि च कीडापयति नगरिं (॥) तथा चवुथे वसे विजाथराधिवासं अहतपुवं कलिंग पुव राज (निवेसित) वितथ म(कु)ट च निखित-छत

६. भिंगारे (हि)त रतन सपतेये सव रठिक भोजके पादे वंदापयति (॥) पंचमे च दानी वसे नंद-राज-ति-वस-सत-ओ(धा) टितं तनसुलिय-वाटा पणाडिं नगरं पवेस (य) तिसो (॥) (अ) भिसितो च (छटे वसे) राजसेयं संदंसयंतो सवकर-वण

७. अनुगह अनेकानि सत सहसानि विसजति पोर जानपदं (॥) सतमं च वसं (पसा) सतो वजिरधर स मतुक पद (कु) म (१) अठमे च वसे महता सेन (१) गोरधगिरि

८. धातापयिता राजगह उपपीडपयति (१) एतिन (१) च कंमपदान स (१) नादेन सेन वाहने विपमुचितुं मधुरं अपयातो यवनरां (ज) (डिमित) यछति पलव

९. कपरूखे हय गज रथ सह यति सव-घरावास सवगहणं च कारयितुं ब्रह्मणानं ज (य) परिहारं ददाति (१) अरहत (नवमे च वसे)

१०. महाविजय पासादं कारयति अठतिसाय सत सहसेहि (॥) दसमे च वसे दंड संधी सा (ममयो) () भंरधवस-पठा () नं मह (१) जयनं () कारापयति (॥) (एकादसमे च वसे)..... प (१) यातानं च म (नि) रतनानि उपलभते ()

११. पुवं राज-निवेसितं पीथुंडं गदभ-नंगलेन कासयति (१) जन (प) दभावनं च तेरस वस सत कतं भि () दति त्रमिर दह () संघात (१) वारसमे च वसे (सह) सेहि वितासयति उतरापध राजानो

१२. म(१) गंधानं च विपुलं भयं जनेतो हथसं गंगाय पाययति (१) म (ग) ध () च राजानं वहसतिमितं पादे वंदापयति (१) नंदराज-नीतं च का (लि) ग जिनं संनिवस अंग-मगध वसुं च नयति (॥).....

१३. (क) तु () जठर (लिखिल- (गोपु) राणि सिहराणि निवेसयति सत विसिकनं (प) रिहारेहि (१) अभुतमछरियं च हथी-निवा(स) परिहर

हय-हथि रतन (मानिक) पंडराजा (मु) तमनि रतनानि आहरापयति इह सत (सहसानि)

१४. सिनो वसीकरोति (।) तेरसमे च वसे सुपवत विजय चके कुमारीपवते अरहते (हि) पखिन सं(सि) तेहि कायनिसीदियाय यापूजावकेहि राजभित्तिन चिन वतानि वास (।) (सि) तानि पूजानुरत उवा (सगा-खा) ख्वेल सिरिना जीवदेह (सथि) का परिखाता (।।)

१५. सकत-समण सुविहितानं च सब दिसानं अ(नि) नं () तपसि इ (सि) न संघियनं अरहतनिसीदिया समीपे पाभारे बराकार समुथापिताहि अनेकयोजना हिताहि..... सिलाहि

१६. चतरे च वेडुरिय गभे थंमे पतिठापयति पानतरीय सत सहसेहि (।) मु(खि)य कल वोछिनं च चोय(ठि) अंग संतिक () तुरियं उपादयति (।) खेम राजा स वढ राजा स भिखु राजा धम राजा पसं (तो) सुनं (तो) अनुभव (तो) कलानानि

१७. गुण विसेस कुसलो सब पासंड पूजको सब दे (वाय) तन सकार कारको अपतिहत चक वाहनवलो चकधरो गुतचको पवतचको राजसिवसू कुल विनिश्रितो महाविजयो राजा खारवेलसिरि (।।)

इस सम्पूर्ण अभिलेख में कहीं भी पद के प्रारम्भ में 'ण' और अन्त में 'न' नहीं है। इसके विपरीत पद के प्रारम्भ में 'न' एवं अन्त में 'न' या 'ण' वर्ण के अनेक उदाहरण हैं, जिसे वे अर्धमागधी की विशेषता स्वीकार करते हैं यथा —

नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं, महाराजेन लखनेन कलिगाधिपतिना, खारवेलेन, नववसाति, नगर, नत, वधमान, नंदराज, यवन, सातकंनि, निवेसितं, नयति, रतनानि, निसीदिया, चिनवतानि, वास (सि)तानि, खारवेल सिरिना सुविहतांब दिसानं आदि। अब अंत में ण के कुछ प्रयोग देखिये -- ऐरेण, संपुणं, गहणं (गोपुराणि, सिहराणि) समण, गुण कन्हवेणा आदि। कुछ ऐसे भी शब्द हैं जहां मध्यवर्ती ण और अन्त में न है। जैसे ब्रह्माणान, लखणेन आदि। इन सब उदाहरणों से तो डॉ० सुदीपजी के अनुसार भी यह अर्धमागधी या अर्धमागधी प्रभावित ही सिद्ध होती है। पुनः इसमें दन्त्य स कार, क वर्ण का 'ग' आदेशतथा 'थ' के स्थान पर 'ध' का प्रयोग रूप जो विशेषताएँ हैं वह तो अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में भी मिलती है।

शौरसेनी के दो विशिष्ट लक्षण — न का सर्वत्र ण और मध्यवर्ती असंयुक्त त् का द् तो इसमें कही पाये ही नहीं जाते हैं। इसी प्रकार इसमें वर्धमान का वधमान रूप ही मिलता है न कि शौरसेनी का वड्डमाण। इस प्रकार इसके शौरसेनी से प्रभावित होने का कोई भी ठोस प्रमाण नहीं है इसके विपरीत यह मागधी या अर्धमागधी से प्रभावित

है, इसके अनेकों अन्तःसाक्ष्य स्वयं इसी अभिलेख में हैं। पुनः कलिंग मगध के निकट हैं शूरसेन से तो बहुत दूर है अतः वहाँ की भाषा मागधी या अर्धमागधी से तो प्रभावित हो सकती है, किन्तु शौरसेनी से नहीं। अतः कलिंग के अभिलेख को भाषा को ओड्मागधी कहना और उसे दिगम्बर आगमों की तथाकथित विशुद्ध शौरसेनी से प्रभावित कहना पूर्णतः निराधार है।

खारवेल के अभिलेखों की भाषा को विद्वानों ने आर्षप्राकृत (अर्धमागधी का प्राचीन रूप) माना है और उसे पालि के समरूप बताया है। जैन आगमों में आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), इसिभासियाइं आदि की और बौद्धपिटक में सुत्तनिपात एवं धम्मपद की भाषा से इसकी पर्याप्त समरूपता है। दोनों की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके कोई भी इसका परीक्षण कर सकता है। उसमें अर्धमागधी के अधिकांश लक्षण पाये जाते हैं, जबकि शौरसेनी के विशिष्ट लक्षणों जैसे सर्वत्र 'ण' का प्रयोग अथवा मध्यवर्ती त् का द्, का उसमें पूर्णतः अभाव है। सत्य तो यह है कि जब अभिलेखीय प्राकृतों को शौरसेनी सिद्ध करना सम्भव नहीं हुआ, तो उन्होंने ओड्मागधी के नाम से नया शगुफा छोड़ा। उनकी यह तथाकथित ओड्मागधी अर्धमागधी से किस प्रकार भिन्न है और उसके ऐसे कौन से विशिष्ट लक्षण हैं, जो प्राचीन अर्धमागधी (आर्ष) या पालि से भिन्न करते हैं, किस प्राकृत व्याकरण में किस व्याकरणकार ने उसके इन लक्षणों का निर्देश किया अथवा इसके नाम का उल्लेख किया है और कौन से ऐसे ग्रन्थ हैं, जो ओड्मागधी में रचे गये हैं? भाई सुदीप जी इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर प्रस्तुत करें। उनके अनुसार इस ओड्मागधी भाषा का निर्देश भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में है, तो फिर प्राचीनकाल से आज तक अनेकों प्राकृत-संस्कृत नाटक रचे गये, क्यों नहीं किसी एक नाटक में भी इस ओड्मागधी का निर्देश हुआ है जबकि उनमें अन्य प्राकृतों के निदर्शन हैं। यह सब सप्रमाण स्पष्ट करें अन्यथा आधारहीन शगुफे छोड़ना बन्द करें। इन शगुफों से वे चाहे साम्प्रदायिक अभिनिवेश से युक्त श्रद्धालुजनों को प्रसन्न कर लें, किन्तु विद्वत् वर्ग इन सबसे दिग्भ्रमित होने वाला नहीं है। डॉ० सुदीपजी का यह वाक्छल भी अधिक चलने वाला नहीं है। दिगम्बर परम्परा के प्राचीन आचार्यगण और वर्तमान युग के अनेक वरिष्ठ विद्वान् यथा पं० नाथूरामजी प्रेमी, प्रो० ए०एन० उपाध्ये, पं० हीरालाल जी, डॉ० हीरालाल जी, पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र जी आदि किसी ने भी ओड्मागधी प्राकृत का कहीं कोई निर्देश क्यों नहीं किया? सम्भवतः भाई सुदीपजी इन सबसे बड़े विद्वान् हैं, क्योंकि वे स्वयं ही लिखते हैं "आज के अधिकांश विद्वान् ओड्मागधी प्राकृत का नाम भी नहीं जानते हैं" (प्राकृत विद्या, अप्रैल-जून १९९८, पृ० १४)। चूंकि ये सभी आचार्यगण और विद्वान् ओड्मागधी प्राकृत का नाम भी नहीं जानते थे, क्योंकि जानते होते तो अवश्य निर्देश करते और भाई सुदीपजी उसके नाम और लक्षण दोनों जानते हैं, अतः ये उनसे बड़े

पण्डित और विद्वान् हैं। उनके और उनकी आधारहीन स्थापनाओं के सम्बन्ध में हम क्या कहे? पाठक स्वयं विचार कर लें।

वस्तुतः आजकल डॉ० सुदीपजी का मात्र एकसूत्रीय कार्यक्रम है, वह यह कि अर्धमागधी आगम साहित्य को कृत्रिम (बनावटी) रूप से पाँचवीं शती में निर्मित कह कर उसके प्रति आस्थाशील श्वेताम्बर समाज की भावनाओं को आहत करना। इसलिए वे नित्य-नये शगुफे छोड़ते रहते हैं। उनके मन में अर्धमागधी और उसके साहित्य के प्रति कितना विद्वेष है यह उनकी शब्दावली से ही स्पष्ट है। वे प्राकृत विद्या, अप्रैल-जून १९९८ में पृ० १४-१५ पर लिखते हैं —

“कई आधुनिक विद्वान् तो इसे (हाथीगुम्फा शिलालेख को) अर्धमागधी में निबद्ध भी कहकर आत्मतुष्टि का अनुभव कर लेते हैं, वे यह तथ्य नहीं जानते हैं कि आज की कथित अर्धमागधी प्राकृत तो कभी लोकजीवन में प्रचलित ही नहीं रही है इसलिए लोक साहित्य और नाट्य साहित्य में कहीं भी इसका प्रयोग तक नहीं मिलता है। ईसापूर्व काल में इस भाषा का अस्तित्व नहीं था। यह तो पाँचवीं शताब्दी में बलभी वाचना के समय कृत्रिम रूप से निर्मित की गई भाषा है, यह अत्यन्त खेद की बात है कि आज के अधिकांश विद्वान् ओड्मागधी प्राकृत का नाम भी नहीं जानते हैं। जिसे वे शौरसेनी से प्रभावित मागधी यानि अर्धमागधी कहते हैं वस्तुतः वह यही ओड्मागधी है, जो ईसा पूर्व काल में प्रचलित थी। पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में यह अस्तित्व में आयी एवं कुछ लोगों द्वारा मिल बैठकर कृत्रिम रूप से बनायी गयी तथाकथित अर्धमागधी या आर्षभाषा नहीं थी। इसका नाम छिपाकर कृत्रिम अर्धमागधी भाषा पर ओड्मागधी प्राकृत की विशेषताओं का लेबिल चिपकाकर धुआंधार प्रचार करना एक झूठ को सौ बार बोलो तो वह सच हो जायेगा इस भ्रामक मानसिकता के कारण हुआ है। वस्तुतः यह तथाकथित कृत्रिम अर्धमागधी प्राकृत न तो लोकजीवन में थी, न लोकसाहित्य में थी, न किसी अभिलेख आदि में रही है और न ही व्याकरण एवं भाषाशास्त्र ने कभी इसे मान्यता दी है। कोरी नारेबाजी से कोई भाषा न तो बनती है और न चलती है। भरतमुनि कथित ओड्मागधी को अर्धमागधी बताकर बहुत दिनों तक चला लिया तथा इसे प्रमाण बताकर अर्धमागधी को ईसा पूर्व तक ले जाने का प्रयत्न भी किया। यहीं नहीं पद्यों में अर्धमागधी एवं ओड्मागधी— इन पदों में मात्रा एवं वर्णों की दृष्टि से कोई अन्तर न होने से यह छल बहुत समय तक चल भी गया, क्योंकि छन्दोभंग न होने से किसी ने एतराज नहीं किया।” प्राकृत विद्या, अप्रैल-जून १९९८, पृ० १४-१५.

डॉ० सुदीप जी के प्रस्तुत कथन के दो ही उद्देश्य हैं— प्रथम तो अपने पूर्ववर्ती सभी श्वेताम्बर, दिगम्बर विद्वानों और अन्य भाषाविदों को अल्पज्ञ एवं अज्ञानी सिद्ध करना है, क्योंकि वे सभी इनकी स्वैर कल्पना प्रसूत ओड्मागधी प्राकृत के नाम एवं

लक्षणों से पूर्णतः अनभिज्ञ रहे हैं। दो हजार से अधिक वर्षों के प्राकृत भाषा के इतिहास में कोई एक भी विद्वान् ऐसा नहीं हुआ है जिसने इस ओड्मागधी प्राकृत और इसके लक्षणों की कोई चर्चा की हो और तो और स्वयं भरतमुनि ने भी कहीं भी ओड्मागधी को प्राकृत भाषा नहीं कहा है, सर्वत्र उसे वृत्ति या प्रवृत्ति ही कहा है। सुदीप जी सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र में एक भी ऐसा स्थल दिखा दें जहाँ ओड्मागधी प्राकृत का नाम आया हो और उसके लक्षणों की कोई चर्चा की गई हो। आजतक एक भी भाषावैज्ञानिक एवं व्याकरणकार भी ऐसा नहीं हुआ, जिसने इस ओड्मागधी की कहीं कोई चर्चा की हो, अतः सुदीप जी की दृष्टि में वे सभी मूर्ख थे। दूसरे आजतक जो विद्वान् अभिलेखीय प्राकृत को पालि एवं अर्धमागधी के समरूप मानते रहे अथवा जो ईसा पूर्व में अर्धमागधी का अस्तित्व मानते रहे और उसका प्रचार करते रहे वे सभी सुदीपजी की दृष्टि में मिथ्याभाषी, छलछद्म करने वाले और भ्रामिक मानसिकता के शिकार रहे हैं। आज भी देश-विदेश में ऐसे सैकड़ों विद्वान् हैं जिन्होंने अर्धमागधी आगमों और उनकी भाषा का अध्ययन करने में पूरा जीवन खपा दिया है। वकौल सुदीपजी के तो ओड्मागधी को ही छल से अर्धमागधी बना दिया गया है। किन्तु ये देश-विदेश के विद्वान्, क्या इतने मूर्ख रहे हैं कि इस छल को समझ भी नहीं सके। अर्धमागधी और उसके लक्षणों को ओड्मागधी बताने का छल कौन कर रहा है, यह तो स्वयं सुदीपजी विचार करें? यदि ओड्मागधी के वे ही लक्षण हैं, जो आर्षप्राकृत या अर्धमागधी के हैं, तो फिर उसे अर्धमागधी न कहकर ओड्मागधी कहने का आग्रह क्यों है? क्या केवल इसलिए कि अर्धमागधी श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों की भाषा है। यह तो ऐसा ही हुआ कि हम तो नानी को कानी ही कहेंगे! पुनः अर्धमागधी को कृत्रिम रूप से पाँचवीं शती में निर्मित कहने का, उसे कुछ लोगों द्वारा मिल-बैठकर बनाने का सफेद झूठ सौ-सौ बार बोलने का प्रयास कौन कर रहा है? सम्भवतः वे स्वयं ही इस झूठ को सौ से अधिक बार तो प्राकृतविद्या में ही लिख चुके हैं— उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि सौ बार क्या हजार बार बोलने पर भी झूठ झूठ ही रहता है सच नहीं होता है। वे चाहे अर्धमागधी भाषा और उसके आगम साहित्य को कृत्रिम रूप से पाँचवीं शती में निर्मित कहते रहें, उसकी जिस प्राचीनता को देश-विदेश में सैकड़ों विद्वान् मान्य कर चुके हैं उस पर कोई आँच आने वाली नहीं है। वे अर्धमागधी को लोकजीवन और लोकसाहित्य में अप्रचलित होने का प्रतिपादन कर रहे हैं, किन्तु वे जरा यह तो बतायें कि उनकी स्वैर कल्पना प्रसूत तथाकथित ओड्मागधी प्राकृत में कितना साहित्य है, किस नाटक में इसका प्रयोग हुआ है, कौन से व्याकरणकार ने इसके नाम और लक्षणों का उल्लेख किया है? अर्धमागधी का आगम साहित्य तो इतना विपुल है कि उसमें युगीन लोकजीवन की सम्पूर्ण ज्ञांकी मिल जाती है। ओड्मागधी का भाषा के रूप में कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है, उसे भाषा बना देना और जिस अर्धमागधी के भाषा के रूप में अनेकशः उल्लेख

हों और जिसका विपुल प्राचीन साहित्य हो, उसे नकार देना मिथ्या दुष्प्रचार के अतिरिक्त कुछ नहीं है? इस सबके पीछे श्वेताम्बर साहित्य और समाज की अवमानना का सुनियोजित षड्यन्त्र है। अतः उन्हें आत्मरक्षा के लिए सजग होने की आवश्यकता है।

